नवीन - गीत



रचयिता—

महेन्द्र नाथ सिंह, एम० ए०

डा० धीरेन्द्र वर्मा डी० लिट० (पेरिस)

अध्यक्ष (हिन्दी विभाग) प्रयाग विश्व विद्यालय

के

कर कमलों में सादर समर्पित ।

प्राक्कथन

गुलाब के फूल में काँटे अनिवार्य रूप से रहते हैं किन्तु रसिक भ्रमर उनकी ओर ध्यान न देकर मधुपान के लिये सचेष्ट होता ही है। महेन्द्रनाथ सिंह जी का यह काव्य संग्रह जिसे उन्होंने नवीन गीत का नाम दिया है सभी बातों में गुलाब के फूल की तरह ही है। इसकी अनेक कविताओं में उनके हृदय की भावुकता सरसता और सुकमारता प्रतिबिम्बित है। कहीं-कहीं उनकी चिन्ता शीलता के भी दर्शन होते हैं। यह सब सिद्ध करता है कि उनमें अच्छी कविता कर सकने की शक्ति यथेष्ट मात्रा में विद्यमान है और काव्य प्रेमियों को उनकी पंक्तियों से आनन्द की प्राप्ति होगी। किन्तु उदार भ्रमर की तरह उन्हें भी अपनी सहृदयता का परिचय देकर यत्र-तत्र दिखाई पड़ने वाली कवि की साधारण निरंकुशताओं के प्रति उपेक्षा भाव धारण करना होगा। मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस काव्य संग्रह के गीत काव्य प्रेमियों में आदर पायेंगे और कवि की द्वितीय रचना हमारे सामने ऐसे रूप में उपस्थित होगी कि उसमें कम से कम काँटे होंगे और अधिक से अधिक मधु होगा।

मैं हिन्दी काव्य जगत में महेन्द्र नाथ सिंह जी का स्वागत करता हूँ। आशा है कि निकट भविष्य में इस क्षेत्र में वे अपने लिये एक सुन्दर स्थान बना लेंगे।

गिरिजा दत्त शुक्ल
गिरीश

भूमिका

मेरा कवि से प्रथम परिचय उस समय हुआ था जब वे एफ० ए० कक्षा में पढ़ रहे थे और अपने भाव सुमनों के द्वारा क्रमाक्रन ढंग से भगवती वीणापाणि की आराधना की तैयारी में कविता के हार पिरोने में लग गए थे। मैं उनकी कविताओं को बड़े भाव से सुनता था और कभी कभी अपनी रुचि के अनुसार उनको नवीन शैली देने का आग्रह भी करता था। यद्यपि उस समय भाषा सौष्ठव और छन्द रचना का अभ्यास पर्याप्त नहीं था किन्तु मुझे इसका कुछ-कुछ अनुभव हो रहा था की समय पाने पर यही बाल कवि साहित्य जगत की सेवा कर सकेगा और आज देख रहा हूँ कि मेरा अनुमान सत्य निकला। कवि की प्रतिभा मुखरित हो उठी है।

प्रस्तुत संग्रह में मूर्ता मूर्त अनेक विषयों पर कविताएं लिखी गई हैं जो अपने-अपने स्थान पर अपना मूल्य रखती हैं। प्रथम कविता 'उस दिन मैं कवि हो जाऊँगा' में कवि ने अपने अन्तराल में व्याप्त प्रकृति प्रेम की ओर संकेत किया है। सचमुच ही हिन्दी जगत के अद्वितीय प्रतिभा सम्पन्न कवि केशव को यदि कुछ लोग नीरस कहने को हिचकते नहीं तो उसका एक मात्र कारण यही था की उन्होंने प्रकृति के बीच में अपने को कभी भी भावुक दर्शक के रूप में उपस्थित नहीं किया। कवि यदि स्रष्टा है, स्वयम्भू है तो प्रकृति उसकी सहचरी है सरस्वती है। सच्चा कवि वही हो सकता है जो प्रकृति के साथ सामञ्जस्य रखता है।

कवि के पास अलौकिक प्रतिभा हो अपरिमित भाषा कोष हो निरन्तर अभ्यास का बल हो और वह स्वयं बहुश्रुत भी हो किन्तु यदि प्रकृति (मानव-अमानव) के पर्यवेक्षण तथा उसके साथ अपने हृदय को मिलाने की क्षमता नहीं है तो कविता हृदयग्राही स्थायी और सर्व प्रिय नहीं हो सकेगी। भावावेश में लिखी हुई कविता अपना क्षणिक प्रभाव ही रख सकती है। कविता की अधिष्ठात्री देवी प्रकृति का जो वरद-हस्त सर्व प्रथम कवि की कुशल कामना के लिए उठा वह आगे चल कर उनके नव नवोन्मेष शालिनी प्रतिभा देती ही रही। वन कुसुमों पर्वत, उपत्यिका और निर्झरों का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है।

कवि ने जो आत्मपरिचय दिया है यद्यपि उससे वे स्पष्ट नहीं हो पाये किन्तु उनकी अन्य कृतियों में बिखरे भावों से कुछ ऐसा जान पड़ता है कि कवि रूढ़ि वादिता का घोर विरोधी है वह जीवन की अनेक रूपता को नवीन ढंग से देखना चाहता है प्रकृति के अनन्य उपासक और प्रत्यक्ष स्थूल सत्य का समर्थक होने का ही यह परिणाम है कि कवि ने ईश्वर तक की अवहेलना कर दी है। वह केवल कर्म को ही सब कुछ मानता है।

'अपने लड़कों से कह दो—तू है चाहे जो कुछ कर
तेरे ही कर्म सहायक है नहीं तुम्हारा ईश्वर'

× × ×

'चल निज से अपर ईश पायें, है ऐसी कोई लीक नहीं

किन्तु आत्म परिचय देते समय जो कवि एक स्थल पर यह कह देता है—

'गुन लो ईश्वर का भारी अभिव्यंजन हूँ'

उसी के मुख से ईश्वर का अस्तित्व मिटा देना कुछ भ्रम में अवश्य डाल देता है। मैं तो समझता हूं कि इस विरोधा भास में बहुत कुछ उनकी मनःस्थिति को बदलने में दो प्रमुख स्थितियों का हाथ रहा है ।

प्रथम तो देश काल के बीच की जनता क्या जगत की अप-रुपता का प्रभाव है जो शोषित प्रताड़ित दलित विभुक्त मग्न अपितु प्रत्येक अभाव के आखेट मानव की चीख है जिससे कवि का हृदय विह्वल हो उठा; ऐसी अवस्था में समष्टि के व्यष्टि रूप, समाज के प्रतिनिधि और जगत के प्रकृति के पुरोहित होने के कारण कवि उस कोमल हृदया माता के समान जो अपने एक मात्र पुत्र की कुशल कामना के लिए नियमित ढंग से नित्य भगवान की उपासना करती है सहसा दुर्भाग्य से उस हृदय के टुकड़े पुत्र की मृत्यु पर ईश्वर को खरी खोटी सुना देती है अथवा उसका अस्तित्व ही नहीं समझती। कवि ने दलित मानव की दशा देख कर इस प्रकार का आवेग प्रगट किया है। दूसरी बात युग की देन भी कही जा सकती है। भौतिकता के इस युग में जहाँ कला की उपयोगिता उसके स्थूल लाभों पर आँकी जा रही है; जहाँ प्रकृति के संघर्ष से उत्पन्न रूप व्यापारात्मक जगत की सफलता उसके भौतिक उत्पादनों पर समझी जाती है वहाँ ईश्वर को आस्था के लिए लोगों ने

कम स्थान छोड़ा है। उसका भी कवि पर कुछ प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

एक बात और मुझे दिखाई दी। कवि एक ओर तो प्रगतिशील विश्व की प्रत्येक गति विधि में स्त्री को आगे बढ़ाना चाहता है, घूँघट के अन्दर से बाहर करके संग्राम स्थल तक उसको ले जाना चाहता है, साथ ही स्त्री सुलभ गुणों से भी उसको युक्त देखना चाहता है किन्तु दूसरी ओर पुरुष के उनके साथ के व्यवहार को केवल आदान प्रदान पर ही सीमिति सा समझता है।

"रति, मति, गति, दारिद्रय और सुख दुख में धन में
पुरुष चाहता प्रेम, उसे तुम प्रेम न दोगी,
फिर कैसे पाओगी बदले में आदर सत्कार,
प्रेम राग नव प्यार"

पत्नी अपना सर्वस्व लुटा दे तब पति बदले में उसको प्यार करे उसका आदर सत्कार करे। यह भावना बहुत उदार नहीं है। फिर भी युग सत्य को साथ लेकर ही कवि ने अग्रसर होने का सफल प्रयत्न किया है।

कवि की कुछ कवितायें आज की प्रगतिशील साहित्य की ओर भी संकेत करती है। कवि क्रांति का समर्थक है और वह भी रक्त क्रान्ति। मुझे स्मरण है एक राजनीति के पण्डित ने कहा था कि रोम ने जब से घोड़े की पीठ से उतर कर मसनदों की शरण ली तभी से उसका सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, राजनैतिक सामाजिक और आर्थिक पतन हो गया। उष्ण रक्त ही

साम्राज्यों में उथल पुथल कर सकता है और नवीन कलाकारों की सृष्टि कर सकता है। कवि ने अपने साम्यवादी विचारों को अपनी 'क्रान्ति' में प्रकट किया है। दीन, नारी क्रान्ति आदि कविताओं से समाज में नवजीवन की शंखध्वनि घोषित होती है जो नवयुग का एक मात्र संदेश है; परित्यक्तों निरालम्बो और दलितों का एक मात्र सम्बन्ध है। कवि 'गांधी' के गौरव को विस्मिरण नहीं कर सकता किन्तु जीवन के दो पक्ष होते हैं अध्यात्मिक और भौतिक। कोरा आध्यामिकता कभी कभी अकर्मण्यता की ओर ले जाती है शरीर की रक्त संवाहिनी सिराओं में शिथिलता ले आती हैं अतः दूसरी ओर भी बढ़ना-बढ़ाना नितान्त आवश्यक समझ कर कवि ने उस झंझा का आह्वान किया है जो स्वार्थनिरत नर-पिशाच को समाप्त कर सके।

सम्पूर्ण रचनाओं को दृष्टि में रख कर यह कहा जा सकता है कि कवि के इस प्रथम संग्रह ने उनको अग्रगामी काव्यधारा की भूमिका तैयार कर दी है। कवि की पूर्ण सफलता की शुभ कामना के साथ मुझे पूर्ण आशा है कि कवि की कृति को पाठक अपनायेंगे और उनको अपनी कला में पूर्ण सफलता मिलेगी।

पं० रामचरण शर्मा एम० ए०

प्रिंसिपल

ना० इ० कालेज जँघई।

'दो शब्द'

इस संग्रह में मुख्यतः पाँच प्रकार की रचनायें संगृहीत हैं। प्रथम प्रकार की रचनाओं में प्रकृति और प्रेम का चित्रण है जैसे 'उस दिन मैं कवि हो जाऊँगा' 'प्यार उर में ले प्रकट करना न सीखा', 'प्रकृति में पातिव्रत' आदि में।

द्वितीय प्रकार की रचनाएँ दार्शनिक हैं जैसे 'आत्म-ज्ञान', 'ज्ञान और पतित मन', 'जयी' 'केवल है मष्तिष्क', 'कृष्ण को आत्म-ज्ञान' इत्यादि।

तीसरे प्रकार में महापुरुषों पर लिखी गई कवितायें आती हैं जैसे 'मनु' 'श्री कृष्ण' 'महात्मा गांधी' 'वीर जवाहर' आदि।

चतुर्थ प्रकार में प्रगति वादी रचनायें हैं जैसे 'क्रांति' 'भूख', 'दीन', इत्यादि।

पांचवां प्रकार की रचनायें सामान्य' व्यावहारिक दैनिक जीवन से संबन्धित हैं जैसे 'पत्नी की उक्ति पति से', 'जननी का पुत्री के प्रति प्रेम' 'नारी' इत्यादि।

अंत में आत्म-परिचय से सम्बन्धित दो कवितायें हैं। 'निर्बल-हृस्ती' नामक कविता में बाल-सुलभ हृदय की सरलता का परिचय मिलता है।

'वीर जबाहर' शीर्षक सम्पूर्ण कविता श्लेष-युक्त है। भाषा की प्रौढ़ता एवं गतिशीलता तथा रस, गुण, अलंकार आदि की झलक पाठक को स्वयं ही प्राप्त हो जायेगी अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

अंत में निम्नलिखित पंक्तियाँ पाठकों की सेवा में समर्पित हैं—

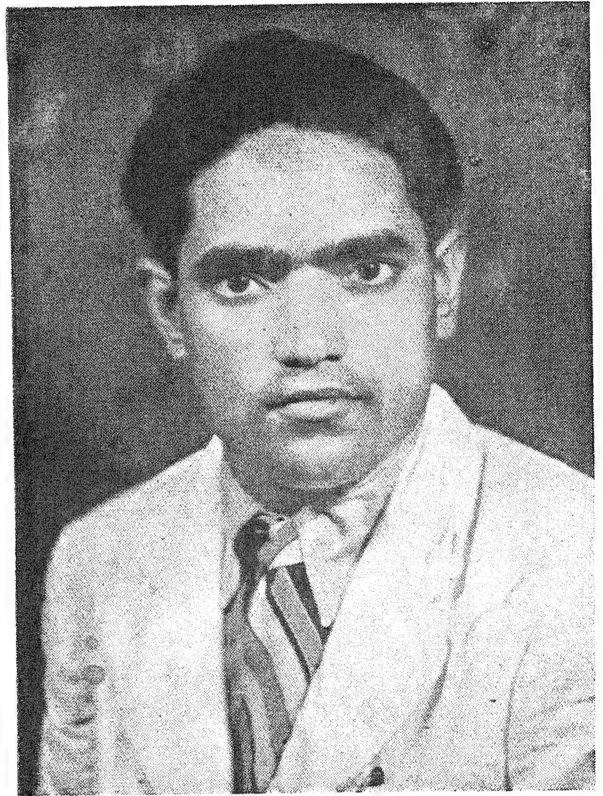
दीन गायक के अनुभव गीत, प्रशंसा थोड़ी सी कर दो;
और भी गायें जिससे, मुझे अमित उत्साहों से भर दो।

कवि—

क्रम

		पृष्ठ
उस दिन मैं कवि हो जाऊँगा	...	१
प्यार उर में ले प्रगट करना न सीखा	...	३
कुसुम मुस्कान पर	...	५
शून्य	...	६
मनु	...	८
पूषण	...	८
आत्म ज्ञान	...	१०
मैं ईश किन्तु उस सीमा पर	...	१७
ज्ञान और पतित मन	...	१९
अगणित रवि शशि तारे दीपक	...	२०
केवल है मस्तिष्क	...	२१
जयी	...	२२
मैं क्या हूँ कोई बतला दे	...	२३
श्रीकृष्ण	...	२४
कृष्ण को आत्म ज्ञान	...	२८
वीर जवाहर	...	३०
महात्मा गाँधी	...	३१
क्रांति	...	३४
देश की दशा	..	३६

दीन ... ३७
भूखा ... ३८
विषखोपर, शूकर, बानर, खर ... ४०
नर ... ४१
निर्बल हस्ती ... ४३
पत्नी की उक्ति पति से ... ४४
जननी का पुत्री के प्रति प्रेम ... ४७
नारी ... ४८
प्रकृति में पातिव्रत ... ४९
अपना ही रूप बदल डाला ... ५०
भाव-निर्झर ... ५०
आत्म-परिचय ... ५१
आत्म-परिचय ... ५२



कवि—
महेन्द्र सिंह एम० ए०

उस दिन मैं कवि हो जाऊँगा।

उस दिन मैं कवि हो जाऊँगा।
नव उरोभार से ऊषा का घन-अञ्चल सरक रहा होगा,
रवि पीछे से आ कंधे पर कर रख मुख निरख रहा होगा,
अलियाँ तारावलियाँ लज्जित होकर गृह में छिप जायेंगी,
क्रीड़ा से दोनों के स्रक को मुक्तायें हिल झर जायेंगी,
ओसों के मिस उनको भू पर झिलमिल सा गिरता पाऊँगा।

गोधूली रवि का हाथ पकड़ शयनालय में ले जायेगी,
अपलक लखती तारक-माला, शशि के ऊपर सो जायेगी,
तम का पट डाल अमा जग को देखने न दृश्य कभी देगी,
रवि लज्जा से मुख लाल किये आयेगा ऊषा तज देगी,
प्रथमा का शशि कृशकाय हुआ निकलेगा आंत लजवाऊँगा।

बादल की सेज बिछा चपला रख इन्द्र-धनुष को सिरहाने,
उठ उठ कर झाँकेगी आकुल प्रिय पहुँच न जायें अनजाने,
आये न प्रतीक्षा कर हारी निश्वासों से शय्या डोली,
भू कँप जाती है चितवन से जो पहले लगती थी भोली,
उसको रो रोकर चुक जाते शय्या को द्रवते पाऊँगा।

देखो वह दूर क्षितिज पर नभ-भू का आलिङ्गन होता है,
तरु से लतिका लिपटी जाती, दीपक पतंग ले सोता है,
ज्यों ज्यों ऊपर उठते तारे, सामीप्य प्राप्त करते जाते,
इन खिंची दिशाओं के कोने, देखो चुप चाप मिले आते
इस मिलन घड़ीमें जिस दिन निज छिपते प्रियसे मिल पाऊँगा।

काँटों को भुज पाशों में भर आकाश बेलि सो जाती है,
भूधर के वक्षस्थल पर हँस उन्मद सरिता बह जाती है,
पल्लव में छिपते कुड्मल को भ्रमरों की माला हेर चुकी,
शैशिर-सित-नैश-जलद वेष्टित शशि को चकोरनी देख चुकी
डूबते दिवाकर को पंकज की आँखे खोल दिखाऊँगा।

'कुछ वर्ष' अलग कर देगा युग, मेरे जीवन की स्मृति के हित,
इतिहास पुकार कहे भर दो, पृष्ठों पर हैं कुछ स्थान रिक्त,
युग युग के कटु आलोचक की वाणी मीठे स्वर बोलेगी,
मस्तक पर चढ़ने को हर्षित, पुष्पों की माला मचलेगी,
प्रत्येक अब्द को 'जन्म-दिवस' उपहार चढ़ाते पाऊँगा।

प्यार उर में ले प्रगट करना न सीखा

प्यार उर में ले प्रकट करना न सीखा
पास से ही जा रहा रुकना न सीखा
लाज से ग्रीवा दबी थे नेत्र सकुचे
थे असंख्यक भाव पर कहना न सीखा।
वायु दोनों देह की गति से बही जो,
आत्म-विस्मृति की क्षणिक दुनिया मिली जो,
हाथ को छूता हुआ अंचल उड़ा था,
पर अभागों ने परस करना न सीखा।
शीश का परिधान सरकाते हुये तुम,
जान कर अनजान से जाते हुये तुम,
मिल गये पथ में विकल उर रो उठा था,
आँसुवों ने सामने गिरना न सीखा।
साँझ की नित गूँथ घन-वेणी दिवाकर
फूल-तारक, सूत्र सिन्दूरी लगाकर
नील अञ्चल को उठाता छिप रहा, क्या
प्रेम तुमने देख भी करना न सीखा?
गौर अंगी नील सारी में ढँकी थी
रेशमी मुस्कान अधरों पर सुहाती,
लाल जलधर को ढँकें ज्यों नील वारिद
चञ्चला उन पर तनिक सी खेल जाती,
विश्व सारा पूछता उस प्रियतमा को
रूप का वर्णन कभी करना न सीखा।
कर रही नीराजना जिसकी नियति है
डाल कर नभ दीप में स्वर्णंग-बाती

लव जला शशि की, हिले घन मिस उसी पर
कर किसी के, तारिका-मुद्रा रखाती
देख कर आँखे मुँदीं उर दीप मेरा
जल रहा था आरती करना न सीखा।
सह रहा है कूल जितने भी थपेड़े
लहरियों ने हैं प्रणय के नाम मारे,
पड़ न जाये भूमि पर छाया गगन की
उग रहे हैं बीच में रवि चन्द्र तारे,
मिल सकूँगा क्यों अनेकों अड़चनों में
कूल, नभ की भाँति भी झुकना न सीखा।
बँध रहे कितने भ्रमर हैं पंख मोड़े,
जल रहे कितने शलभ पंखे पसारे,
चाहती लतिका लिपट लें पूर्ण तरु से,
चाहता है पुष्प हट तितली सँभालें,
खिंच गये प्रतिकूल दोनों फूल टूटा
साँसतें इस प्रेम की सहना न सीखा।
देख अगणित तारिकाओं को दिवाकर
साज अगणित कर चला था चूम लेने,
छिप गईं, वह झुक गया कर रखधरा पर
प्रेम उतरा भूमि जीवन दान देने,
पर अनोखा प्रेम तेरा जो किसी को
भूल जीवन दान भी देना न सीखा।

—०—

"कुसुम मुसकान पर"

कुसुम मुसकान पर, मधुप के गान पर
कौन मकरन्द का सृजन करता गया ?
प्रिय की पुकार घन-गर्जन अभिसार पर
कौन गर्भ-सार युक्त नीर बरसा गया ?
संध्या अरुणाञ्चल-वृत (युत) नीड़ में चहकते हुए
आये खग-दंपति, विश्राम पंख पंख तले,
उर था उरसे ही लीन, भूले कटु कर्म-जाल
गद्‌गद् हो कंठ रुद्ध, कौन मौन ला गया !
साँझ होते ही दृष्टि प्राची क्षितिज की ओर
प्रतिक्षण निराश हो पलकें गिर जाती हैं
उठा घन लाल कोई आगमन उषा का जान
अर्द्ध सरि उड़कर, लौट तट पर था संज्ञा हीन
कौन निशि भर को चीत्कार करुण ला गया ।
यह अपनी ही चेतना की प्रीति-वेदना है
सुखमय संयोग में है, व्यथित वियोग में
किन्तु उन्मुक्त पुरुष सबसे परे है नित्य
सम रस अचञ्चल मन योग में, वियोग में ।

'शून्य'

कैसे इस नभ नील निलय में
झिलमिल तारे उग आये ;
रवि, शशि, ग्रह, भू , प्रकृति-नियंत्रक
कैसे नियमित गति पाये ?

कैसे सबमें तेज भर गया
कैसे सागर नीर भरा ;
कैसे मारुत बहा प्राण-प्रद
कैसे अंकुर उगा हरा ?

कैसे क्रमिक विकास सृष्टि का
मानव का यह छविमय रूप
तेज भरा, हँसता कैसे है—
आया भू का अतुलित भूप ?

विपुल देहधारी जीवों की
कैसे कलामयी उत्पत्ति
बढ़ती गई निरन्तर जिससे
शांतिद सुखद ज्ञान सम्पत्ति ।

अरे शून्य से ही क्या इतना
प्रखर तेज निस्सृत हुआ

जिससे मारुत, जल, क्षिति, चेतन—
कारण सब उद्भूत हुआ।
उसी शून्य को ही क्या कहते
ब्रह्म विरज अज अकल अशेष
व्याप्त अखंड अनंत अनामय
अनलिप अनाकार अखिलेश।

यह है केवल सत्य किन्तु
यह सत्य सृष्टि चेतन सानंद
इसीलिये उस महाशून्य को
कहते अमित सच्चिदानन्द।

जिससे तेज हुआ उद्भासित
वह है निर्गुण—नामा क्यों
सर्व परे निरपेक्ष अधूरी
एकांगी परिभाषा क्यों।

———

'मनु'

आदि पुरुष वर नाम श्रवण कर श्रद्धा उमड़ा करती।
मानव की प्रत्येक वृत्ति जिसके अन्तर में
निज उद्दाम प्रबलतम रूपों में है घुमड़ा करती।
एकांगी नव प्रेम चाहता, रूठ चला पत्नी से
प्रथम अहेरी फिर उन्नति कर शाशक निज करणी से।
मानव की प्रत्येक वृत्ति का है प्रतीक प्रतिभाशाली
जिसे मिले मरु सरि आतप हिम कंटक फूलों की डाली।
कामी की कुत्सायें जिसमें और भरा शाशन-कौशल,
श्रद्धायुत हिम गिरि चढ़ पाया, ऋषि की शांति स्नेह तपबल।
उसने ही जीवन-दर्शन की नींव जमा दी है जिससे,
मानव संचालित करता नित अपना जीवन दुख-सुख से।

'पूषण'

उदित उषा-प्रोत पूषण
विगत प्रदोष दूषण
भूषण अम्बर का
अरुण किरणों मय
बढ़े क्षण क्षण।
ज्योति-अग्नि-तेज-ताप-वर्षण;
आकर्षण मय
भू शशि ग्रह तारे सब

भूल रहे बन्धन मय;
तेरे शीत होने में
अकाल मय अवर्षण तम,
मनुज बल पराजय,

पशु उद्यम, जन संख्या कम,
कृमि उद्गम,
हिम की चट्टानों पर कँपते तन।
तेरे विकर्षण में प्रलय मय घर्षण सुप्त;

कितना विक्रम मय पुष्ट, हुआ नहीं कभी लुप्त।
तेरे कर आधी वसुधा को घेर लेते हैं
तमस के छिपते स्थानों को हेर लेते हैं।
दीप्त-काय, प्रभा-प्राय

बाल जगत-जनक-धाय
आदि शक्ति के समीप
तेज पुंज कांति-राय
शून्य के त्रिनेत्र

सृष्टि देख रेख में विशेष लीन
नीलिमा विलीन हो रही जहाँ अशेष
चेतना जगी कहाँ देख ! तू बता नहीं
किसी को सुभेद आदि सृष्टि का दिखा नहीं;

नहीं तो महान मनुज कहेगा निजस्व को
क्रीड़ा कन्दुक सा लघु समझ अखिल विश्व को,

आत्म-ज्ञान

ईश्वर हो या न कभी भी,
हम जान न सकते उसको;
इस सृष्टि-सृजन-कारण का,
कब पता हुआ है किसको।

यह सीमित ज्ञान तुम्हारा,
पट का असीम क्या जाने;
या शून्य सृजन का कारण,
कैसे कोई अनुमाने।

विज्ञान यत्न कर देखे,
यदि पता लगे तो अच्छा।
सारे ही भ्रम मिट जायें
सब ज्ञान बना हो सच्चा।

जल कर लौटेंगे ऐसी
आशा ही झूठ वृथा है
पागल मस्तिकों के कुछ
दर्शन की कथित कथा है

हो स्वास्थ्य, शयन- गृह सुन्दर
रमणी मृदु- भाषिणि सरला
जिसके आचरण चलन पर
चुप चाप लजाती कमला

पर राग न हो कुछ तेरा
उपभोग न तुझमें आये
उर में कुछ स्थान न देना
कितना ही वाह्य लुभाये।

सच में तो सत् मत यह है
जग में न किसी का कोई
सब हैं स्वतन्त्र से आते
शैशव से ही सुधि खोई

सीखा है काम घृणा मद
भय क्रोध ईर्ष्या झगड़े
यह वातावरण चतुर्दिक
दूषित है सबको जकड़े

यदि बाल सिखाया जाये
समुचित प्रकार का जीवन
सुख पूर्ण कदाचित कर ले
सम्पूर्ण आयु का यापन

दुख भय चिन्ता से बचना
ही हो उद्देश्य हमारा
धीरता सरलता मृदुता
की बहती उर में धारा

सुख का शाश्वत साधन है
शुचि स्वस्थ शरीर गठीला

रति से अनवरत घृणा हो
पत्नी हो सरला शीला।

भोजन स्वादिष्ट बनाकर
हो नित्य सप्रेम खिलाती
अगणित सेवायें करती
हँस शिष्ट समोद हँसाती।

जीवन की शक्ति बढ़ाता
ले पुष्ट भोज्य, पय पीता
अभिराम पठन पाठन नित;
हो ज्ञान बना मनचीता।

जपने वालो क्यों जपते
उर की दुर्बलता तेरी
अपने ही कर्म सुधारो
क्यों बनते पर की चेरी।

क्यों कुसुम चाहता जाने
क्या आदि बीज था जिससे
पादप समुदाय बना है,
कह दो पूछेगा किससे।

वह आदि बीज तो उग कर
मिट गया न अब है बाकी
उसके पादप बीजों से
यह पादप सृष्टि सुहासी।

इसलिये विहँसना खिलना
अपने कुछ बीज बनाना
हे पुष्प धर्म है तेरा
डाली पर से झर जाना।

एक ही वृक्ष में फूलों
के भिन्न प्रकार दिखाते
इस भाँति भिन्नता बढ़ती
अगणित स्वरूप बन आते।

फिर लौट न खिल पाओगे
यह अटल सत्य निश्चित है
दुर्भाग्य कि झंझा से हत
असमय में हुआ पतित है।

मधुपों से भी कम खेलो
अपना सौंदर्य बचाओ
क्षण भर के घने सुखों को
जीवन भर में वितराओ।

कामी क्रोधी लोभी हो
मत जीवन नष्ट करो तुम
हो स्वास्थ्य वीर्य बल रक्षा
मत मन को भ्रष्ट करो तुम।

निश्चित जीवन-का सुख दुख
कर्मों पर ही आधारित

पर कर्म विचारों पर हैं
निश्चित ध्रुवमय अवलम्बित।

जो कुछ कोई कहता है
वह ही वह सोच रहा है
जो कुछ कोई करता है
वह ही वह सोच रहा है।

इसलिये विचारों का ही
संशोधन सुख का साधन
मानव क्या है ? संज्ञा-मय,
जिसमें विचार आवर्तन।

जीवन धारण करना ही
आनन्द स्वरूप सुनहला
सुख दुख भय घृणा किन्ही भी
भावों से मेधा विकला।

क्या पाप पुण्य क्या पूजा
क्या स्वर्ग नरक सब झूठे
रति, प्रीति, भक्ति, श्रद्धा-रस
दुखमय तन-नाशक रूखे।

वध कर पर सोच 'न मैंने
कुछ पाप किया न बुरा ही'
तो पाप न होगा निश्चित
पर वध आवश्यकता क्या ही

दुख अटल वधित को होगा
दुख दे न किसी को मानव
हाँ जो वध करने आये
वध के हित बन जा दानव।

चींटी मरने से कह दो
क्या पाप हुआ करता है
झूठे ही सदय हृदय क्यों
दुख में रोया करता है।

था कृष्ण कि जिसने सच में
कुछ प्रेम न किया किसी से
अगणित हत्यायें पर कब
खाली था अधर हँसी से।

अपने लड़कों से कह दो
तू है चाहे जो कुछ कर
तेरे ही कर्म सहायक
है नहीं तुम्हारा ईश्वर।

बतला दो स्वास्थ्य विनाशक
कर्मों से दूर रहेंगे
धन बुद्धि विभव बल विद्या
अर्जन सत्कार करेंगे

हैं सब समान किस हित हो
उर प्रेम विशेष किसी से

पत्नी सुत भ्राता जननी
पालित हों जनक खुशी से

तारों सा मेल जनित हो
क्या कभी परस्पर लड़ते
धीरता उन्हीं सी निश्चल
एकाध कभी जो गिरते

जब तक हो सुख से जी लो
निश्चिन्त, स्वतन्त्र, निरामय
अपने कर्मों के बल से
पी लो अमृत मधु घृत पय

यों तो संगर अनुचित है,
जीवन अमूल्य लेने को
ध्रुव मृत्यु-न डर निर्भय तू!
अरि को कुअजय देने को

हो देश न विजित कभी भी
जय का ही ध्वज लहराये
पापी है देश-विजित में
जो जीवन रहता जाये

———

मैं ईश किन्तु उस सीमा पर

मैं ईश किन्तु उस सीमा पर,
है जिसके आगे वृद्धि नहीं;
जिससे बढ़ कर आनन्द सत्य
शिव, शोभा, ज्ञान-समृद्धि नहीं।
हमने आदर्श बनाया था,
है मेरे द्वारा रचित ईश
हममें से राम, कृष्ण, गौतम
शंकर से कितने हुए ईश।
जप राम कृष्ण का भाता था,
वैदिक युग में किसको कह दो।
मूर्तियाँ बना कर कहता था,
कब कोई 'मन्दिर में रख दो।'
क्यों व्यक्ति-व्यक्ति का नाम रटे,
प्रतिकूल परिस्थितियाँ बीतीं,
गत पतन-काल का आडम्बर,
विश्वासमयी सदियाँ बीतीं।
जो परिवर्तित युग के सँग है,
उस ईश्वर को शाश्वत कहते;
जिसमें उत्थान निहित अपना,
उस जग को माया-वत कहते।

आदर्श अनुकरण समीचीन,
पर मूर्ख भावना ठीक नहीं;
चल निज से अपर ईश पायें,
है ऐसी कोई लीक नहीं।
रामानुसरण कर सकता है,
निज रूप परिष्कृत पावन तम;
है व्यर्थ नाम उच्चारण में,
इस अकर्मण्य जिह्वा का श्रम।
क्यों कूप कन्दरा में बैठे,
क्या निराकार, क्या निर्विकार,
साकार तुम्हीं हो निर्विकार,
तेरे भीतर आनन्द धार।
क्या आँख नहीं है देख सको,
सब काल लोक-हित-रत मानव;
भगवान हो गया; जान सका
तुमको कब कोई, जीवित शव।

'ज्ञान और पतित मन'

ज्योति-निर्झर ! तव पुलिन-तम,
मचल घुलना चाहता है;
रजतमय होकर तुम्हीं में,
आज मिलना चाहता है।
टिमटिमाते तारको, निष्प्रभ—
निशापति से न तोषित,
नभ उषारम्भित प्रभापल,
में बदलना चाहता है।
लघु किरण आई, निरख—
निज रूप अपने से घृणित हो,
घिस, चमक अस्तित्व खोकर,
किरण बनना चाहता है।
मिल गया प्रिय से, उमड़ता
हसित बल खाता चला है
अब न हहराते प्रवह-नद
से बिछुड़ना चाहता है।

———

अगणित रवि शशि तारे दीपक

अगणित रवि शशि तारे दीपक
ज्योति सभी को देते होंगे ;
मेरा प्रतिक्षण तम का अनुभव
मुझे न डग है भरने देता।
नव स्थल दृढ़ लख पग रखता था
सब कंटकमय खोह बन गये ;
सुन्दरता भीतर कुरूप थी,
प्रेम नहीं सब मोह बन गये ;
झूठे सुख से वंचित ऋजु उर,
चलने का साहस हर लेता।

—○○—

बद्ध था मन बन गया

बद्ध था मन, बन गया भगवान कोई मुक्ति के हित,
आज हूँ उन्मुक्त अपना ईश हूँ, जगदीश हूँ मैं।
इष्ट नव जीवन, मलिन सीमित जलाशय-स्वच्छता हित;
पूर्ण निज में, ऊर्मि-बोझिल, सीम-च्युत-वारीश हूँ मैं।
चूम पाता था जिसे प्रावृट समय में भी न सरसी
मिल रही सरिता स्वयं आकर; हुई उद्भूत मुझसे।
और वह था काम, यह निष्काम, दूषित-राग-विरहित,
वह मुखापेक्षी जलद का, जो ढले मेरे वपुष से।

रवमय, लय-सृजन-कारण और गहराई असीमित
झलक अविरल, हरहराता, तेज मंडित प्रणव रव हूँ।
कौन कहता श्याम हैं भगवान ? काञ्चन-दीप्त, अरुणिम,
अमित रवि सम चमत्कृत; शीतल-सुदृढ़-आलोक-भव हूँ।

केवल है मस्तिष्क

केवल है मस्तिष्क (मानसिक संस्थान)
चाहे कहो चेतना, आत्मा बुद्धि ज्ञानः
इच्छा, भाव, विचार सभी इसमें उठते हैं।
अपनी ही इस अतुल बुद्धि से
हम अनुभव कर सकते हैं—
जड़ता तृणता,
वेलिता, विटपता, जल चरता,
कीटता, सरीसृपता, पशुता,
शिशुता, तारुण्य, जरा निर्बल,
मानवता लोक-हिताय नवल
सुन्दर उदात्त जय कीर्ति धवल;
अज्ञान, मसृणता, दृढ़ विकास
केवल जल सेवन, उड़ दंशन,
विषता-कुत्सितता, हिंस्र जंतुता
पराधीनता, ज्ञान-उन्नयन।

नवीन गीत

'श्री कृष्ण'

[illegible] कटि, श्यामल-वपु
    मोर-चन्द्रिका मंडित [illegible]
[illegible] वर वक्षस्थल
    ज्यों संक्रान्त पर्वत [illegible]

बाहु बलिष्ट प्रलम्ब मां[illegible],
    निहित [illegible] [illegible]
[illegible] असमर्थ [illegible] [illegible].
    मिली अचानक [illegible]

× ×

उडु-नख, निशि-कच, इन्दु [illegible]
    नवल नयन [illegible]
दशन प्रकाश अधर [illegible].
    ले [illegible]

सिर-कर-पद नत [illegible]
    शीर्ष भाग [illegible]
मुक्तमाल-वक, श्रम-जल [illegible]
    श्याम-[illegible]

[illegible]शनि, उपल, हिम [illegible]
    वाडव, [illegible]

मैं क्या हूँ कोई बतला दे

धरती पर पहुँचाने आई थी ऊषा की अरुणिम छाया,
था आदि नाद जीवन-परिचय देने मुखरित हो सँग आया,
कच में रजनी, नख में तारे, विद्युत मुस्कानों में आई,
सकुशल था भू पर शीश नमित, कोई नभ से यह कहला दे।
षट दिन तक रोया स्नात हो गया होता आंसू आ न सका,
मेरे दुख-सुख, रोने-गाने, का अन्तर कोई पा न सका,
कष्ट कर स्वभाव सहन पीड़ा करने का भीतर ही भीतर
घर की मलकिन की आज्ञा थी, कोई जल से ही नहला दे।
वह कौन रहा प्रिय छोड़ जिसे मैं नित ही रुदन किया करता
या दुख मय जीवन जगती का उसका संकेत दिया करता
या 'कहां कहां ?' का प्रश्न अनुत्तर नव स्थल देख किया करता
जिसकी विह्वलता देख जननि कहती कोई शिशु बहला दे।
निशि में यौवन के स्वप्न बीच था कोई मेरी गोद भरे
थे उभय परस्पर देख रहे आरम्भ वार्ता कौन करे
पल निमिष कसक ले घरी प्रहर सब बीत गये परिचय न हुआ।
जागरण विरह लेकर आया, कोई मेरा उर सहला दे।
है जरा, अनुभवों की थाती ले बैठा हूँ कुछ सीखो तुम
सित केश, रुग्ण-कृश-कम्पित तन, निज सेवाओं से सींचो तुम
जाना है किस पथ, किस घर, किस नगरी में किसकी छाया में
या मिट जाना है सब दिन को, कोई ज्ञानी सच बतला दे।

———

'श्री कृष्ण'

पीत वस्त्र-युत कटि, श्यामल-वपु
मोर-चन्द्रिका मंडित शीश
वनमाला-युत वर वक्षस्थल
ज्यों संकुचित पर्वताधीश ।

बाहु वलिष्ट प्रलम्ब मांसल,
निहित वितुंड-तुंड की शक्ति;
श्रद्धा-नत असमर्थ नृ-धी को,
मिली अचानक कुत्सित भक्ति

× × × ×

उडु-नख, निशि-कच, इन्द्र धनुष-पट,
नवल नयन बहते बादल;
दशन प्रकाश अधर अरुणाभा,
ले स्मिति-विद्यु कौंधती कल ।

सिर-कर-पद नत क्षितिज चतुर्दिक,
शीर्ष भाग कटि सढर चढ़ान;
मुक्तमाल-वक, श्रम-जल-हिम-कण;
श्वास-समीर, गिरा-नभगान ।

अशनि, उपल, हिम, वात प्रलय कर,
बाड़व, दावा, अग्निल ज्वाल;

ध्वंस स्थैर्य निर्माण नियंत्रक,
पूषण तत्व प्रज्वलित भाल
अरुण कपोल-उषा-रस-प्राची,
पग- तल लाली- गोधूली;
नभ उतरा है मूर्त सुसीमित,
शून्य- कुसुम- डाली फूली।

× × × ×

तृण-द्रुम-वल्ली-विरल तनोरुह,
सरिता सी बहती बाहें;
प्राय-द्वीप पद, कटि विषुवत भू
त्वच-सँकोच अगणित राहें।

नव दृग श्यामल लोल दोल सर,
प्रलय बाढ़ बादल जिसमें
प्रबल पुलिन-भ्रू-भंग बाँध दे
भरा अतुल भुजबल किसमें।

सिंह, ग्राह, गज, अहि मयूर नर,
की प्रवृत्तियों का आगार;
रद, नख, अधर, अस्थि, पीतांबर,
हीरा हेम रत्न भंडार।

वक्ष-शीश-गिरि-शिखर समुन्नत,
मंडित घन-वन केश अनूप;

अतुलित धारण शक्ति समन्वित
है धरणी का मानव रूप।

× × × ×

चक्रिण, गदिन, किरीटिन, शङ्खिन,
सरसिज प्रिय मुस्काते बैन;
मदमाते निश्चिन्त मनस्वी,
परम शांति-प्रद तिर्यक शयन।

नहीं चतुर्भुज, उभय भुजा भृत,
चतुर्दिशा शासित पालित
शेष-शयन केवल प्रतीक, वन—
नाग जातियाँ विवशी कृत।

मारुत वेग छिपाये देखो,
हँसते चलते मद-गज-चाल;
सिन्धु- शिष्ट- भावोर्मिल अंतर
अनाचार के काल कराल।

चक्री, तेजस्वी, मेधावी,
धृत्युत्साह समन्वित वीर;
कुलिश कठोरा अस्थि, शिरायें,
भेद न सकें विषम खर तीर।

रथोपस्थ बैठे अर्जुन, रख—
सशर चाप, संविग्न-मना;

जागरूक कर दिया मुग्ध को,
पावन गीता मंत्र सुना।
है निरस्त्र सारथि पारथ का,
अस्त्र-शस्त्र-वर्षण के बीच;
मुस्काता निर्भीक-मना दृढ़,
ज्यों कच्छप पर पड़ते कीच।
आत्म-पक्ष पारायण कितना,
कादरता अर्जुन की देख;
स्वयं चक्र ले दौड़ पड़ा है,
भूल प्रतिज्ञा वीरोन्मेष।
न्याय पक्ष धारी है कैसे,
आत्म पक्ष की हार सहे;
क्या न करेगा उसके कारण,
चाहे दुनिया छली कहे।
अरे! सँपेरा है, नृप-अहि की,
चाल बाँध देता है।
मन-परिवर्तक साँचा, पर-मन को,
त्वरित ढाल लेता है।
श्रीमत, धीमत, भूतिमत, अमित शील-मत धीर,
चिन्ता-च्युत मन अद्रवमत, नेत्रअधीर अनीर।

—००—

'कृष्ण को आत्म-ज्ञान'

सोच रहे बैठे कृष्ण
'क्षण भर भी गोपियों से दूर रहा जाता नहीं
जब से राधिका बरसाने गईं, रात रात
जागता हूँ, नींद नहीं आती, उठ पागल सा
इधर उधर घूम कर मन बहलाता हूँ
हो गये महीनों, है चिन्तित विक्षिप्त मन
आँसू वियोग के आते आँखों में नित्य
सोचता हूँ चलूँ उसी के पास, किन्तु लोग—
कहेंगे नारी के वश में रहता है।
द्रोण थे दरिद्र द्विज, आज गुरु शासकों के—
अपने कर्मों से शस्त्र-विद्या पारंगत हो।
भीष्म का ब्रह्मचर्य किसने सुना नहीं,
कर्ण की दान-वीरता से मधु-सिक्त मही,
रघुपति, वशिष्ठ, कौशिक, आदि कवि वाल्मीकि
मन से ऊपर उठ, हुये दिव्य पुरुष श्रेष्ठ।
मैं चाहता हूँ याद आये नहीं राधिका का—
रूप, किन्तु बार बार याद आता है।
क्यों ? कौन याद करता है ?'

एक झिटका सा लगा,
'अरे ! मैं ही तो स्मरण करता हूँ,
मेरी ही बुद्धि में सारे विचार उठते हैं।
मैं चाहूँ स्मरण करूँ या न करूँ
सोचूँ या न सोचूँ किसी भी बात को;
एक भी विचार अब मेरी आज्ञा के बिना
उठ नहीं सकता मेरे मस्तिष्क में.
चाहूँ जन्म भर के लिये, भूल जाऊँ राधिका को
यह अब मेरे ही वश की है सरल बात'।

अब क्या था फड़क उठे
अगणित विचार दिव्य,—
"मैं ही डरता हूँ, चाहूँ भय का अनुभव न हो,
बड़े बड़े क्रोधियों का, हिंस्रों का, वीरों का—
वध कर सकता हूँ, बिना भयभीत हुये।

भय घृणा वासना सब शैशव के संस्कार
केवल विचारों का खेल चले सृष्टि में;
जिसे लोग पाप कहें वही पाप हो गया,
जिसे लोग पुण्य कहें वही पुण्य हो गया,
वास्तव में पाप पुण्य कुछ नहीं वसुधा में.

भले बुरे कर्मों का विचार आवश्यक है
केवल समाज-सुख-शान्ति दृष्टिकोण से।'
यही कारण है, आगे के सभी कार्यों में—
उसे सफलता मिली,
राधा और गोपियों के
विरह से विकल नहीं हुआ, दृढ मनस्वी था।
मृत्यु से डरता नहीं,
जीवन-लीला का
अंत हो जाने पर
जीवन की सुधि किसको।

———

'वीर जवाहर'

वक्ष हिम-शीतल, सुप्त ज्वाला मुखियों का केन्द्र
स्फोट भीम अग्निल क्रुद्ध वसुधा दहलाते हैं
जीवन-प्रवाह-मूल देश के, विदेशियों के
हाथ जाते जीवन को रोक रोक लाते हैं

धरणी धर, दुर्गम, अजेय, अचलेश धीर
प्रहरी प्रचंड यश मारुत नद गाते हैं
सजे विविध वर्ण वसन, हो रहे तरंगिणि-च्युत
वीर वर जवाहर सानु हिमगिरि से भाते हैं।

—००—



महात्मा-गांधी

सुमन सा लघु-भार पर पद चाप से डग मग धरा है,
हो अमित निर्माण प्रति पद-चिह्न कितना उर्वरा है।
तम युगों का मिट चले बस एक वंकिम दृष्टि कर दे,
तेज उसमें शत सहस्त्रों अंशु माली का भरा है।
गन्ध-सुगंधित-विश्व विहँसित, हृष्ट रोमा हर्ष चेता,
मधु मरंद अमित अमर उस पुष्प से कैसा झरा है।
दीन दलितों का दयामय, पतित जन का पतित-पावन,
त्तत निरस्त्रों का शरायुध, मूक की गर्जित गिरा है।
केलियुत, श्रम-विन्दु सिंचित, कंज नाल सुबाहु चालित
कब न नभ, भू, कम्पती का चक्र घहरा कर चला है।
था अहिंसा का सजल हिम-ग्लेशियर जिसपर बुझे थे—
हिंस्त्र हिसा के अँगारे, गल स्वयं भी बह चला है।
भीष्म का ब्रह्मचर्य भी है तुच्छ इसकी गृहस्थी से
बह रहा अन्याय बल, यह न्याय को लेकर चला है।

———

'बापू–मरण'

जिसके आने से नभ के घर,
ऊषा-नर्तन, खग का गान;
गौर तारकों का निष्कासन
इन्द्र धनुष ध्वज का सम्मान।
उस नभ निर्मित व्रण-पीड़ा से
वृद्ध दिवाकर ऊब रहा है;
अपनी छाती पर कर रख कर
रक्त निमज्जित डूब रहा है।

जली चिता, नीले जलदों की
कालिन्दी ने राख छिपाई
अरुण क्षितिज की विमल भारती,
मन्दाकिनि ने राख छिपाई।

रघुपति-राघव कहते कहते
थके विहँग नीड़ों में सोये;
घन की अरथी चन्द्र सजाता,
वायु झकोरे जिसको ढोये।

रजनी की अलकें छिटकाकर
निज समीर अचल को छोड़े;
दिककर फैला प्रकृति रो रही,
अपनी क्षीण क्षितिज कटि मोड़े।

यंत्र रो रहे, तंत्र रो रहे
कल के हुये स्वतंत्र रो रहे,
वर्ण चतुष्टय में पिसते थे
दलित वर्ग परतंत्र रो रहे।

तेरा चित्र लगा छाती से
घर घर में महिलायें रोईं
वक्ताओं के भाषण रोये
कवियों की कवितायें रोईं।
अगणित काव्यों की रचना कर
कवि न विश्व का हृदय छू सके,
अपनी भाषा की सीमा में
सीमित जन में बड़े हो सके।

मरण नहीं था पंक्ति करुण रस—
की बापू ने एक सुनाई,
हृदय पकड़ कर विश्व रो उठा,
देखो सद् कवि की चतुराई।
मरे कौन कहता है बापू
जिसे अमरता ढूँढ़ा करती
गये कौन कहता है जिसमें
व्यापकता भी सीमित रहती।
जिसकी अँगुली धर कर उठता
है उत्थान प्रगति चलती है

जिसकी पलकों के उठने में
सदियों की अवनति ढहती है।
श्रम-सीकर के एक विन्दु में
प्रलय सिन्धु अँगड़ाई लेता
मुट्ठी भर कंकाल हिमालय—
की गुरुता पर हँस हँस देता।

—○○—

'क्रांति'

नभ के अनिमेष नयन,
निशि-पलक खुली रह गई, झलकते तारे
गति मय धरती है स्तब्ध,
दिवाकर देख देख जाता है—

यह शोषण अनाचार
पीड़ित मानवता का।
चल रहीं अकिञ्चन की छाती पर मिलें—
हथौड़े, घन, शाशन-नव।

अस्थि-शेष पंजर मोटी रोटी खा-खाकर,
नमक और पानी से मन का स्वाद बुझाकर,
चीर रहे हैं ठठरी को हल की नोकों से।
भूख ! भूख ही भूख

खुली है लाज
नग्न पन है कृशतन का साज।
काला तन काला अन्धा मन;
दुर्बुद्धि अविद्यामय जीवन;

शिक्षित को भी लब्ध न काम;
न जीवन में विश्राम, न दाम।
खल भला रहा है सिन्धु
मचलतीं तुमुल तरंगें,

शंख, भेर्य, पणवानक, गोमुख के निनाद से
गूँजेगा अम्बर अनन्त का अंतराल फिर।
रणन झनन तलवारों की गोली की सन् सन्
तोपों की गरजें भालों ढालों की झनझन।

फिर से नव निर्माण, नया धन-वितरण, सब सम
विजयी होगा विलासिता पर जीवन का श्रम।

देश की दशा

कृषि का पतन, क्षुधा का नर्तन, स्वार्थ लोभ का प्रत्यावर्तन,
भारत में कैसा शासन है, जन-बल-बुद्धि-विभव का कर्तन।
स्वास्थ्य आयु सुख क्षीण हो रहे, गर्वोन्नत भी दीन हो रहे,
क्या पुरुषत्व रहेगा उनमें, जल-धन विच्युत मीन हो रहे।
नींद न आती पावस ऋतु में, कीड़े खा जाते तन-निर्धन,
घासों के ही बीच सो रहा, कहीं झोपड़ी डाल अकिञ्चन।
वस्त्र फटे गंदे दुर्गंधित, तन में मैल जमी, हत-प्रभ-स्मित,
मान बिगत सबसे दबता है, मन की शक्ति शयित, गर्हित मृत।
भोजन भर मिल जाये दिन भर श्रम-मय अगणित काम करा लो,
'नहीं' करेगा नहीं, रात भर शयन-विकल को पूर्ण जगा लो।
शिक्षित नहीं शिक्षितों से ही करना पड़ता है व्यवहार,
'डाँट डपट' पाता है दिन भर, लज्जित होता बारम्बार।
किन्तु आग भी सुलग रही है, सम्हलो, नहीं लगेगी देर
संग झोपड़ी के जल जायेगी यह धन की खड़ी मुँडेर
अच्छा है अब से समता का, गान करो क्यों नाश चाहते
संगर में दोनों की क्षति है, क्यों स्वदेश का ह्रास चाहते।

'दीन'

एक मोटी छोटी, धोती मैली कुचैली
पहने बैठा है पिता—
निकट;
खुला काला तन;
काँप रहा भय से, क्या हो रहा लड़के को,
'राम राम' कह उठता,
कातर वाणी में दीन।
लो! यह अन्तिम श्वास
हिचकी—हत प्राण नाश
फूट पड़े चीत्कार
माता, पिता, लघुभाई, नवागता पत्नी के।
पत्नी के जीवन की, नौका कौन खेयेगा
एक शिशु गोदी में, श्वसुर का चौथा पन।
केवल जूड़ी आ रही थी,
किन्तु पैसा कहाँ औषधि को;
क्रीत कर कुनैन लाये,
अथवा किसी वैद्य या डाक्टर को दिखा आये।
लोगों की बताई हुई, खरबिरई लाता था
बाँधता था हाथ में, पीस कर पिलाता था।
माँ ने ताँबे का पैसा, सिर पर गोंठकर,

खाट में बाँधा था,
अच्छा होने पर देवी-दर्शन के लिये।
कितने अशिक्षित हैं, उन्हें पता भी नहीं
क्या करना चाहिये, ऐसी बीमारियों में।
अब—
केवल कराह ही जीवन का स्वर है
अपना निर्वाह ही विश्व का समर है
चिड़ियाँ भी चुँग कर खा लेती हैं पेट भर
मानव का जीवन हुआ हत्या का घर है।

'भूखा'

राम रहे शृंगार मुखों का,
उनके जिनका पेट भरा।
भूख भूख रटती है प्रतिक्षण,
मेरी भूखी दीन गिरा॥
भूखों का सम्मान यहाँ पर,
भूखों के प्रति हमदर्दी।
मेरा तन मन खाने आते,
भूखे वर्षातप सर्दी॥

मरने पर तन 'भूख-भूख' का,
छपा हुआ शव-वस्त्र ओढ़ाना।
भूखो ! कंधे पर ले मुझको,
भूख सत्य है नाद लगाना ॥

कितनी महँगी साड़ी, चम-चम,
करती कार चली जाती।
थका ललचता चलता पैदल,
पग से नाप सड़क काली ॥

ऊँची दूकानों पर धनिकों,
के होते अपव्यय शत-शत।
मैं सामान देख कर लौटा,
करता प्रति दिन इच्छा-हत ॥

पत्नी को भी नहीं साथ,
ले जाता देख कहेगी क्या।
कितना लज्जित हूँगा, मन में,
फिर सुख शांति रहेगी क्या ॥

———

विषखोपर, शूकर, वानर, खर,

विष खोपर, शूकर, वानर, खर,
अजगर, वृक, नाहर, द्विज जलचर;
गज, गव गृद्ध गैंड़ गिरि वन में,
सोते निशिदिन तुषित उदर भर।

वेलि विटप वीरुध रस सिंचित,
अक्षुध अतृप अग अलग अचिन्तित;
पर भारत भू पर कलंक मय,
अर्द्ध नारि नर क्षुधित तृषित मृत।

उठो! उठो! नीरज सी सूखी,
बाहों में फिर नीर भरो;
कोकिल कंठी के कंठों में,
रति वियोग की पीर भरो।

चोर हीर शुचि अन्न खीर का,
पुनः बिपुल अविरल वितरण;
तन मन बाहर भीतर प्रतिक्षण,
उपयोगी मधु कर्म संचरण।

भेरी, ढोल, मृदंग, दमामा,
तुमुल नगारों का रण नाद
भाये बीन, मुचंग, मुरज, डफ,
मुरली, नूपुर, रासक वाद्य।

स्वर्ण-रजत-रंजित वस्त्रों का,
युग झिलमिल दीपित दमके;
कुन्द-इन्दु-दर-गौर मांसल,
तन-काञ्चन-वलिष्ट चमके।

'नर'

तन गज-विशाल; गति शिष्ट रम्य—
शुचि सहज नियंत्रित सर्व गम्य—
संयत, सशील, संतत सलील—
निर्मल, निवाध, निरवधि अदम्य।
ज्योतित आनन स्मित अधर;
बराबर सरिता, कानन, नगर—
वारिधर, हिम-शर, भूधर, झील—
नागरिक, तपसी, वन चर भील।
बाघ, वृक, भालु, नाग, केशरी,
बाघिनी, वृकी, रीछनी डरी
सर्पिणी करिणी अरनी भीत,
परिचिता भिल्लि नागरी परी।
अहिंसा, साम्य, तुष्टि, तप, मान,
सत्य शम, दम, सुख दुख, शुचि ज्ञान।
भया भय, भावाभाव, अकाम,
यशायश, क्षमा, दया विश्राम।

सभी को तुझसे संज्ञा मिली
सभी का तुझसे भिन्नी करण
सभी होते तुझमें उत्पन्न
सभी का संग तुम्हारे मरण।
महर्षय ! मुने ! नृपे ! तव नाम
भूमि-भर्ता, धाता, गुण-ग्राम
महा महती महेष्वासा
अतुल निश्चल-प्रतिष्ठ अभिराम।
तू दिव्य पुरुष आदित्य-वर्ण
मणि, दीप, स्वर्ण होते विवर्ण
रण, विपति, मृत्यु में अविकम्पित
तू पार्थ, द्रोण, कृप, भीष्म कर्ण।

× × × ×

अज्ञानज तम-ताम्र-पत्र पर
ज्ञान दीप के स्वर्णिम लेख;
युग युग से लिखते आये हो
हे ऋषि, कवि चिन्तित अनिमेष।
हे आदि देव, हे अंत देव
तेरा गृह ही है परम धाम;
रखते अशेष सम्पदा, शक्ति
हे विष्णु विधाता ईश काम।

'निर्बल हस्ती'

हस्ती ! कितनी भी मस्ती से डोलो, सस्ती चाल तुम्हारी,
भारी स्थूल सधूल झूलती, मेरी गति पर जाती वारी।

एक सुंड; मेरी दो दो आजानु भुजायें
गोरी मांसल गोल विलसतीं दायें बायें।

काले मोटे पैर पेट निस्फूर्त तुम्हारे।
रक्त बहा कब ? पानी; भाले धँस धँस हारे।

मेरा वक्षस्थल विशाल पर्वताकार दृढ़,
पाता जय चिढ़ अजय शक्तियों से शाश्वत भिड़।

तेरा साहस निस्वर भय-हत सत्वर दबता
भारी भरकम छोटे चीतों से भी डरता;

बन गुलाम निश्चेष्ट क्रियायें करता फिरता,
अबल महावत जब कानों पर अंकुश रखता।

तू निर्वसन, तुम्हारी करिणी एक पूंछ से—
लाज बचाती, देह खुजाती पेड़ ठूँठ से।

मेरी रमणी ! अहा ! विविध वस्त्रों से भूषित
सजी, सुनहली, आभूषित कब अधर न सस्मित।

अपना मुँह देखो भोटे सा दंतिल विवरित;
आँखें छोटी सबको बड़ा देखतीं जल-प्लुत।

मेरा मुख ! सरसी शशि सरसिज छिप जाते हैं,
काली विरल वरुनियों से युत मोटी पलकें
सित-तमाभ आँखें पावस-घन मँडराते हैं।

———

' पत्नी की उक्ति पति से '

'पत्नी की उक्ति पति से'

उत्सर्ग-प्राप्ति की समता,
नारी ने पहचाना है,
सब कुछ अर्पित कर देने,
में ही सब कुछ पाना है
मेरी पूजा, श्रद्धा, मन,
अर्चन, आराधन, वन्दन,
चिंतन, साधन, तन, जीवन,
अर्पित मेरा नीराजन ।
वासना, कामना, सपना,
आशा, अभिलाष, निराशा,
अर्पित तेरे चरणों में,
प्रति क्षण की चलती श्वासा ।
सुख , दुख हँसना औ रोना
आदर, अपमान, प्रतिष्ठा,
सारल्य, परुषता, शुचिता
साफल्य, विफलता, निष्ठा ।
आग्रह, आदरण, अनुग्रह,
विग्रह फिर मिलन-प्रतीक्षा ;

गाना, मुस्काना, आँसू
सेवा सत्कार समीक्षा ।
रति, मति, गति, प्रीति, प्रतीती
संभोग, वियोग उलहना ;
वैधव्य, सुहाग सनेला,
बिखरी सी होना, सजना ।
अर्पित तेरे चरणों में,
रानी कहलाना, बिकना ;
फूलों की सेज बिछाना,
कंटक पर सुख से चलना ।
मेरे आँसू गिरते हों
तब कर बढ़ बढ़ कर पोंछें ;
आपदा देख कर तेरी
मेरे कर अलकें नोचें ।
तुम हँसो हँसूँगी मैं भी,
तुम रोओ मैं रोवूँगी,
जागो, जागूँगी मैं भी
तुम सोओ मैं सोवूँगी ।
तुम चलो चलूँगी मैं भी,
तुम रुको रुकूँगी मैं भी;
तुम जियो जिऊँगी मैं भी,
तुम मरो मरूँगी मैं भी ।

तुम नाचो मैं नाचूँगी,
तुम गाओ मैं गाऊँगी;
तुम समर प्रयाण करोगे,
सेवा के लिये चलूँगी।

यदि तुम गृहस्थ, मैं गृहिणी
याचक, मैं बनूँ भिखारिन;
तुम भक्त राम के सच्चे,
मन्दिर की बनूँ पुजारिन।

तेरा रथ टूट गया हो,
कर दंड लगा कर खींचूँ;
तेरा व्रत टूट रहा हो,
शिशु-शव आँसू से सींचूँ
तेरा अभिशाप बढ़ा हो
जड़ शिला बनी मैं सोऊँ
तेरा संताप बढ़ा हो,
कानन निवासिनी होऊँ।
प्रासाद-स्वाद, कुटिया का—
अवसाद तुम्हें अर्पित है
दुख-मय दिन, सुख-मय रजनी
आह्लाद तुम्हें अर्पित है।

'जननी का पुत्री के प्रति प्रेम'

सस्मित आनन परिहास न भाया किसको,
उपलब्ध उदरिणी का आदर था मुझको
नित पहन सुनहले हार, कँगन, श्रुति-भूषण,
करधनी, स्वर्ण तारों के झलमल सुवसन
ढाला कन्या तन पर सोने का पानी
जो गई सभी के नैन निकष पहचानी।
नित देख देख ऊषा को अधर बनाये,
दाड़िम दाने, किंशुक, प्रवाल सकुचाये।
बहते बादल की छाया में नित डोल डोल
आँखें बन पाईं बड़ी बड़ी सुन्दर अमोल।।
चपला-हासिनि थी, हास भर दिया मन में,
वर्त्तुल उरोज छिप गये उसी के तन में;
मेरा यौवन ढल गया उसी में जागा,
अपना सौंदर्य देखती फिर से पागा।।
कन्या-वर ! तेरे हाथों वह रक्षित हो,
मेरी प्रतिकृति, मैं नत, न मुझे फिर दुख हो।
मेरी निरीहता, निस्संबलता, सरल स्पष्टता,
उसे मिली नव मृदुल भाषिता सहन शीलता,
नारी जीवन निरुपाय, नहीं कलुषित है
नर मिथ्या-संशय, काम-क्रोध-पीड़ित है।।

'नारी'

पति से कह दो बार बार
अपने चरित्र की दृढ़ता, पावन-प्रेम, प्यार।
तेरा मौन उसे संशय में डाल रहा है,
तभी क्रोध करता, विलासिता-पर होता है।
घर की दीवारों में, जकड़े परिवारों में,
तुम्हें सिखाई गई लाज, शिक्षा न मिली है।
अब से सीखो
निज बालाओं को ऊँची शिक्षायें देना।
पुरुष चाहता नहीं लाज अपनी पत्नी से।
अन्य पुरुष सम्मुख सलज्ज रहना ही गुण है।
और यह घूँघट !
मुख में नहीं लगी है मसि
जो उसे छिपाती हो।
पति चाहे विश्वास उसे विश्वास दिला दो
निज व्यवहारों से, बातों से, कार्य-क्रमों से—
'तुम उसकी हो उससे ही हो प्रेम कर रही।'
हो जाये निश्चिन्त, सुखी वह शुभ-कर्मी नित।
सक्रिय भाग हो तेरा नित उसके जीवन में,
रति, मति, गति, दारिद्र्य और सुख, दुख में, धन में।

पुरुष चाहता प्रेम, उसे तुम प्रेम न दोगी
प्यार, राग, सत्कार, उसे ये सार न दोगी
फिर कैसे पाओगी बदले में आदर सत्कार
प्रेम राग नव प्यार।

'प्रकृति में पातिव्रत्त'

कौन कह रहा निर्झरिणी, गिरि की गोदी में सोई
उसने पकड़ा अरे! विछल कर भगी, देख लो रोई।
जायेगी सरिता सँग प्रेमी-सिन्धु-सबल बाहों में,
बने प्रपात कौन कहता! वह विकल हुई आहों में।
गिरि की वर्वरता पर संगिनि सरि को देख हँसी है,
उसे कह रहे हम अँगड़ाती उज्ज्वल धार बही है।
जहाँ मलिन थी और उदासी धीरे सिसक मनायी
उस उपत्यिका को देखा क्या? रही उदासी छायी
है चिढ़ रही पतित-पर्वत के अनुचित व्यवहारों पर
और छट-पटा कर चिल्लाती लज्जा के नारों पर
चीर बचाती धँसी हुई सी, हम कहते गाती नत
आँख खोल देखो न! प्रकृति में है कितना पातिव्रत।

अपना ही रूप बदल डाला

अपना ही रूप बदल डाला शब्दों में, सब कहते 'कविता'।
जब पाया नहीं प्रणय करने की कोई वस्तु विधाता से
तरु रो-रोकर कृश काय हुआ उसको ही सब कहते लतिका।
तैरता अकेला शून्य बीच, अभिसार नहीं, मृदु प्यार नहीं
उस यक्ष-दूत को यक्ष सदृश, इच्छित रूखा संसार नहीं
घन जल जल कर अंगार हुआ उसको ही सब कहते क्षणिका।
घूमा पतझर भर डाल डाल, अभिलाष लिये, मधु प्यास लिये
अलि की असफलता विह्वलता पर देखा जगने हास लिये
इच्छायें जलकर लाल हुईं उसको ही सब कहते कलिका।

———

'भाव-निर्झर'

पूर्व निर्मित पथ निरख मत, भाव के निर्बंध निर्झर,
गलित, ढीले, विरस वर्णिक-पंक से मन हो असुन्दर !
सरस लघु उपयुक्त सार्थक, शब्द के दृढ़ रम्य प्रस्तर—
पर हहर झर लहर, मल सब धुलें; शाश्वत विभ विमल वर !
मनुज-तन-मन-मदिर-सिंचन, गमन से विद्युत-सृजन कर,
गिर कला अस्थैर्य, कामुक-स्थैर्य पर विजयी ! हनन कर !
दे सुना स्थावर-सचेतन और ब्राह्मण-ग्रथित दर्शन;
बन सुचिन्तन-कांति बोझिल, रस बहे बन प्रेम पावन;
बाह्य-अंतर गठन चारित्रिक, सृजित आनंद के सँग;
है वही कविता बने जो ऊर्ध्व-गामी स्राव के सँग।

———

'आत्म-परिचय'

उस निर्माता का नाम कलंकित करने—
उन्मुक्त, बली जीवन प्रवाह को धरने—
मैं नहीं दास मन का जगती के सुख का,
अनुभव न हुआ है मुझे कभी भी दुख का।
क्या कुसुम हँसेगा जैसा मैं हँस देता,
क्या उषा चलेगी जैसा मैं चल देता,
क्या साथ करें तारे आँखें नीची कर,
जैसा मैं साथ किया करता हिल मिल कर।
कोकिल क्या गाये गायन मेरा सुन लो;
जीवन का लघु रामायण मेरा सुन लो:
सुन लो ईश्वर का भारी अभिव्यंजन हूँ;
उस कविमनीषी का कविता नन्दन हूँ।
मेरे उर से नभ से है होड़ पुरानी,
गति से लज्जित हो नीचे बहता पानी,
मैं अटल शांत रहता, अपने में विह्वल
इसलिये धरा चलती पर रहती निश्चल।

———

'आत्म-परिचय'

वाणी नीराजन करती है
जिसका वह कवि हूँ कलाकार,
जिसके उर से है हार चुका,
लहराता सागर बार बार।
भू-कम्प बँधे, जिसके पद में,
सौन्दर्य रहे जिसके सँग में;
जो जन जन का मन रँग देता,
चुप चाप अमिट अपने रँग में।
संस्कृति का है विकास जिससे,
आत्मा का नव प्रकाश जिससे;
अवकाश सदृश जिसका अन्तर,
है ज्ञान-प्रसून-वास जिससे।
मरु निज सूना पन हार चुका
जिसकी उदास मुद्राओं पर,
गिरि अपनी दृढ़ता वार चुका,
दुख में जिसकी दृढ़ताओं पर
थी अग्नि क्रोध सन्मुख शीतल,
हिम तप्त स्वभाव-समीक्षा में,
उत्तीर्ण हुआ हूँ, स्वयं परीक्षा--
द्वारा हुई परीक्षा में।

———